पेरिस
जनवरी २७, २००६

सन्देश संख्या १५८

दिल्ली स्थित शिष्य–संग सहज सत्संग

जीवन की अभिरुचि केवल जीने में है, प्रजनन में है, अन्य किसी में नहीं। जीवन जीने एवं प्रजनन की सहज वृत्ति से अभिप्रेरित जीवन के समस्त कर्मों का सहज निष्पादन आवश्यक है । इसके विपरीत, इच्छा या भय से प्रेरित मन की गतिविधियाँ जीवन विरोधी होती हैं ।

उदाहरणार्थ, जीने के लिए शरीर के पोषण की आवश्यकता होती है तब भोजन की इच्छा होती है । यदि शरीर मन की गलाघोंटू पकड़ से मुक्त है तो साधारण भोजन मिलने पर भी उसे कोई निराशा नहीं होती और न ही विशेष भोजन मिलने पर खुशी और तुष्टि का अनुभव होता है ।

इसी तरह, किसी व्यक्ति को जीविकोपार्जन हेतु आने–जाने के लिए कार की आवश्यकता हो सकती है । यहाँ, कार की इच्छा जीवन जीने के लिए आवश्यक है । किन्तु यदि स्मृति में कार का मानसिक पंजीकरण होता है तब व्यक्ति अपनी कार की तुलना दूसरों की कारों से करता है और फिर अपने लिए दुःखदायी या सुखदायी विचारों की श्रृंखला तैयार कर लेता है ।

सजगता में जीवन जीने के लिए न तो धन का त्याग आवश्यक है और न ही कृत्रिम जीवन की आवश्यकता है । यदि समझदारी की ऊर्जा हो तब विलासिता के संसाधनों के मध्य रहने वाला राजा भी ऋषि हो सकता है । ऐसा व्यक्ति धन–वैभव के कारण न तो स्वयं को सम्मानित अनुभव करता है और न ही उसके खो जाने पर किसी प्रकार का अपमान महसूस करता है । यहाँ ऐसी ही एक कहानी है :–

एक राजा था । उसके राज्य में रहने वाले एक ऋषि के प्रति उसके मन में श्रद्धा और समादर का भाव था । एक बार उसने निश्चय किया कि वह ऋषि को उनकी साधारण कुटिया से बाहर लाकर राजमहल के असाधारण सुविधा–सम्पन्न वैभवशाली जीवन प्रदान करेगा । वह मन ही मन सोचता हुआ ऋषि को बुलाने स्वयं उनकी कुटिया में गया कि सम्भवतः ऋषि राजमहल में रहने हेतु आएँगे नहीं और उसके निवेदन को विनम्रतापूर्वक अस्वीकार कर देंगे । किन्तु ऋषि तो तत्काल सहमत हो गए और उसके साथ राजमहल आ गए । राजमहल में वे समस्त प्रकार की सुख–सुविधाओं को अंगीकार कर राजसी ठाठ–बाट से रहने लगे । राजा आश्चर्यचकित था । उसने कुछ समय तक तो बरदास्त किया किन्तु कुछ माह बाद, जब उसकी सहनशक्ति समाप्त हो गई तब उसने ऋषि से पूछा–''यदि ऋषि भी राजा की भाँति राजसी ठाठ–बाट से जीवन व्यतीत करता है, तो राजा और ऋषि में क्या अन्तर है?'' ऋषि ने उत्तर दिया–''अन्तर जानने के लिए मेरे साथ आओ ।'' यह कहकर वे राजा को उसके राज्य की सीमा से बाहर ले आये । फिर, उन्होंने राजा से कहा–''अब मैं तुम्हारी सीमा से कुछ और दूर जा रहा हूँ, क्या तुम भी मेरे साथ वहाँ चल सकते हो?'' राजा ने कहा –''यह सम्भव नहीं, क्योंकि वह प्रदेश तो मेरे राज्य की सीमा से बाहर है ।'' ऋषि ने मुस्कराते हुए उत्तर दिया–''यही अन्तर है ।''

अब एक उदाहरण भय का लें । एक व्यक्ति किसी संगठन में अपनी आजीविका के लिए नौकरी करता है । कुछ लोग उसे काम से हटाने की साजिश रचते हैं और वह उनके षड्यन्त्र का शिकार हो जाता है । यदि वह स्वयं को निर्दोष सिद्ध करता है तब भी षड्यन्त्र करने वाले उसकी योग्यता एवं सत्यता को नहीं समझने वाले हैं, क्योंकि उसमें उनकी कोई रूचि नहीं है ।

यदि वह व्यक्ति साजिश करने वालों के षड्यन्त्र को विफल करने के लिये किसी अनुचित माध्यम का सहारा लेता है और षड्यन्त्र–कर्त्ताओं के विरुद्ध किसी भी प्रकार की दुर्भावना नहीं रखता तब वह जीवन के लिए कार्य करता है। ऐसी स्थिति में उसके कम केवल जीवन जीने की सहज–वृत्ति से प्रेरित है न कि मन के भय से प्रेरित ।

चैतन्य के विस्फोट से जब यह समझदारी घटित होती है तब शरीर में भगवद्गीता के इस प्रज्ञा–आलोक का उदय होता है –

नादत्ते कस्यचित् पापं न चैव सुकृतं ज्ञानम्
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ।।५/१५।।

शून्यता, विशुद्ध ऊर्जा का सजगता ही जीवन है, प्रेम है, प्रभु है । इस प्रभु को, इस भगवत्ता को, पाप और पुण्य के विभाजनों से कुछ भी लेना–देना नहीं। ये विभाजन तो ''मैं'' द्वारा बनाये गए हैं जो चैतन्य को ढँक देते हैं । इसे न समझना ही, मनुष्य के दुःख एवं पीड़ा का मूल है ।

जीवन–प्रवाह में सारे निर्णय पूर्व–धारणा के अनुरूप हों, वे परस्पर अविरोधी हों–यह आवश्यक नहीं । केवल समझदारी की ऊर्जा की आवश्यकता है । जिस तरह नदी अपने प्रवाह में किसी निश्चित दिशा की ओर ही नहीं बहती, अपितु मुड़कर भी बहती चलती है । परन्तु इस क्रम में वह सदैव गुरूत्वाकषण के नियम के अधीन रहती है । उसी तरह समझदारी एवं समता की ऊर्जा में स्थित लोगों के कम, ''मैं'' की दृष्टि से परस्पर विरोधी होते हुए भी, सदैव चैतन्य की कृपा अनुप्रेरित होते हैं ।

सरलता और कृत्रिमता तथा समझदारी और परिस्थितिजन्य व्यवहार में एकरूपता, कभी भी साथ–साथ नहीं होते । जहाँ समझदारी होती है, वहाँ विध्वंसकारी 'अनुशासन' अर्थहीन हो जाता है ।

।। जय सरलता, जय समझदारी ।।